**धर्म की अवधारणा एवं तत्व**

संस्कृत शब्दार्थ कोष के अनुसार, धर्म शब्द धारणार्थक धृ धातु से उत्पन्न है। जिसका अर्थ है धारण करना अत: धर्म का मूल अर्थ है जो धारण किया जाए अथवा जो व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को धारण करता है। यह सामान्य रूप से पदार्थ मात्र का वह प्राकृतिक तथा मूल गुण है, जो उसमें शष्वत रूप से विद्यमान रहता है। किसी वस्तु का वस्तुत्व ही उसका धर्म कहा जाता है।

**1. भारतीय परिप्रेक्ष्य में धर्म –**

व्यास का कथन है कि ‘‘आरणात् धर्म इत्याहु ‘‘ अर्थात् यह कहा जाता है कि धर्म वही है जिसे धारण किया जाता है। समाज में व्यक्ति जीवन प्रति जो धारणा बनाता है या धारणा करता है वही धर्म है। धर्म संस्कृत के ‘‘धृ’’ धातु से बना है जिसका अर्थ है जो धारण किया जाये। जब क्या धारण किया जाये स्पष्ट हो जाये तो वह धर्म बन जाता है। धर्म एक प्रकार से कर्यव्य के द्वारा कुछ समाजोपयोगी तथा आत्मोपयेगी बातों या गुणों को धारण करना कहा जा सकता है। जेम्स ने कहा है -’’धार्मिक जीवन में आत्म समर्पण और त्याग को प्रोत्साहित किया जाता है और अनावश्यक बातो को इसलिये त्यागा जाता है, जिससे सुख की वृद्धि हो सके। इस प्रकार उन बातो को सरल और सुविधा जनक बनाता है, जो जीवन की प्रत्येक दशा में आवश्यक है।’’

धृति क्षमा दमोsस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह।  
धी विद्या सत्यमक्रोधो दशकम् धर्म लक्षणम्।  
  
धर्म के दस लक्षण धृति, क्षमा, दम, स्तेय, शुचिता, इन्द्रिय निग्रह, धीर, विज्ञा (ज्ञान), सत्य, अक्रोध (भावनात्मक असंतुलन) है।  
  
अंग्रेजी में ‘रिलीजन’ शब्द की उत्पति लैटिन के दो शब्दों से हुयी - री और लीगर । इसका अर्थ है टू बाइन्ड बैक’’ अर्थात् ‘‘सम्बन्ध स्थापित करना’’। इस प्रकार, धर्म वह है जो सम्बन्ध स्थापित करता है। गिस्बर्ट ने लिखा है- ‘‘धर्म दोहरा सम्बन्ध स्थापित करता है: पहला मनुष्य और ईश्वर के बीच दूसरा - ईश्वर की संतान होने के कारण मनुष्य और मनुष्य के बीच’’। धर्म के दो पक्ष आन्तरिक पक्ष में ईश्वर से सम्बन्धित मनुष्य के विचार, विश्वास और भावनायें आती है। बाºय पक्ष में प्रार्थनायें और धार्मिक रीति रिवाज आते है। डासन ने स्पष्ट किया है -’’जब कभी और जहॉ कही मनुष्य ऐसी बाºय शक्तियो पर निर्भरता अनुभव करता है, जो रहस्यपूर्ण और मनुष्य की शक्तियों से कही अधिक उच्चतम मानी जाती है वही धर्म होता है।’’ गिस्बर्ट के अनुसार - ’’धर्म ईश्वर या सेवाओं के प्रति उसके उपर मनुष्य अपने को निर्भर अनुभव करता है, गतिशील, विश्वास एवं आत्म समर्पण है।

**2. आध्यात्मिक पक्ष से धर्म-**

हीगले के अनुसार- ‘‘धर्म एक पक्रर का सावर्ज निक दर्शन है।’’ टेलर का मत है कि - ‘‘धर्म आध्यात्मिक जीवों में विश्वास है।’’ इस प्रकार का विचार ह्यइटहैड ने व्यक्त करते हुये लिखा है कि ‘‘ धर्म एक ऐसे तत्व का दर्शन है , जो हमारे परे पीछे और भीतर है - जो वास्तविक (सत्य) है और जिसकी अनुभूति की प्रतीक्षा होती है -जो ऐसा तत्व है , जिसकी अन्तिम आदर्श रूप से आशा रहित खोज होती है।’’ आध्यात्मिक दृष्टि से धर्म मूल्यों की खोज और धारण करना है।

**3. नीति के रूप में धर्म –**

कान्ट ने कहा है -’’धर्म हमारे सामने कत्र्तव्यो को देवी आदेशों के रूप में मान्यता देने को कहता है।’’ इस प्रकार धर्म कर्तव्यपालन है रामचरितमानस में कई प्रसंगों में कर्तव्य पालन को धर्म की संज्ञा दी गयी है। अभिपे्रतार्थ यह निकालना चाहिये कि ‘‘धर्म नैतिकता का श्रोत है। वहीं व्यक्ति नैतिक है ,जिसमे धर्म की भावना है । परन्तु नैतिकता धर्म का एक अंग है।

**4. भावना के रूप में धर्म -**  
धर्म का पोषण मनुष्य की भावनाओं से होता है। हाकिंग ने धर्म की ‘‘वह अन्तभाविना या प्रकृति कहा है जो अतं: प्रेरणा के साथ होती है। ‘‘ सालोमन रीनास ने लिखा है कि-’’धर्म इच्छाओं का योग है जो हमारी बौद्धिक शक्तियों के स्वतंत्र प्रयोग में बाधा डालती है।’’ जबकी फ्रायड ने कहा है - ‘‘धर्म को मानवता की दबी हुई भावनाओं से प्रेरित विश्वव्यापी मानस विकार माना जाना चाहिये।’’ भावना ने ही धर्म में कट्टरता उत्पन्न की जो वर्तमान में विश्व समाज के समक्ष अनसुलझी उलझन है और इसने कई बार विश्व की मानव जाती को संकट में डाला ।

**5. धर्म एक संस्था के रूप में –**

धर्म को एक सस्ंथा के रूप में भी देखा जा सकता है क्योंकि इसका निर्माण सम्वेत रूप से समाज ने ही किया है और उनके वैचारिक भावनात्मक, परम्परात्मक एवं व्यवहारात्मक एकता पाई जाती है जिसका पालन उस धर्म के मानने वाले या संस्था के सदस्य करते है। धर्म को सदैव व्यापक अर्थ में स्वीकार करना चाहिए क्योंकि वह मानवता के प्रति व्यक्तिगण और सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक तथा सांसारिक लौेकिक तथा पारलौकिक दोनों रूपों में विभिन्न कर्तव्यों के पालन में होता है। धर्म को धारण कर व्यक्ति का अस्तित्व एवं व्यक्तित्व दोंनों पुरा हों जाता है। धर्म जीवन के प्रति सर्वव्यापक सर्वदेशीय, सर्वकालिक दृष्टिकोणबनाता है। ग्रैण्डमाइसन लिखते है कि -‘‘धर्म व्यक्तित्व और सामाजिक विश्वासों, स्थायी भावों और अभ्यासों का कुल योग है, जिसका अपना एक उदेश्य होता है, एक शक्ति जिसे मनुष्य सबसे बडा़ मानता है, जिस पर निर्भर रहता है और जिसके साथ वह संम्बन्ध स्थापित कर सकता है अथवा सम्बन्ध स्थपित कर लिया है।

                   **धर्म के मुख्य विशेषताएँ**

**1. अलौकिक शक्ति में विश्वास -**  
धर्म का संबंध अनेक ऐसे विश्वासों से है जो किसी अलौकिक शक्ति से संबंधित होते हैं। इस अलौकिक शक्ति को कुछ समूह साकार रूप में देखते हैं, जबकि कुछ समूहों में इस शक्ति का रूप निराकार माना जाता है। व्यक्ति यह विश्वास करते हैं कि यह अलौकिक शक्ति ही उन्हें जीवन में विभिन्न प्रकार के सुख-दुख, लाभ-हानि अथवा सफलताएँ और असफलताएँ देती है।  
**2. एक सैधान्तिक व्यवस्था -**  
धर्म में केवल विश्वासों का ही समावेश नहीं होता बल्कि इन विश्वासों को अनेक सिद्धान्तों के रूप में इस तरह विकसित किया जाता है जिससे अलौकिक शक्ति के प्रति व्यक्ति के विश्वास अधिक दृढ़ बन सकें। यही सिद्धांत ‘धार्मिक वैचारिकी’ का आधार होते हैं।

**3. धार्मिक क्रियाओं व कर्मकाण्डों का समावेश -**  
प्रत्येक धर्म में पूजा-आराधना की विभिन्न पद्धतियों, पवित्र आचरणों और तरह-तरह के कर्मकाण्डों का समावेश होता है। व्यक्तियों का यह विश्वास होता है कि इन क्रियाओं और कर्मकाण्डों के द्वारा ही अलौकिक शक्ति को प्रसन्न करके इच्छित फल प्राप्त किया जा सकता है। ईश्वर की आराधना, आत्म-संयम, तीर्थ-यात्राएँ, पवित्र कार्य, त्यागमय जीवन तथा संस्कारों की पूर्ति धार्मिक क्रियाओं और कर्मकाण्डों के ही विभिन्न रूप हैं।  
**4. प्रतीक व पौराणिक गाथाएँ -**  
सभी धर्मों में धार्मिक विश्वासों को कुछ प्रतीकों के द्वारा स्पष्ट किया जाता है। उदाहरण के लिए, हिन्दू धर्म में मूर्ति अलौकिक शक्ति का प्रतीक है, जबकि ईसाई धर्म में ‘क्रास’ ईसा मसीह के आश्र्ाीवाद का प्रतीक है। रामायण, बाइबिल तथा कुरान आदि ईश्वरीय ज्ञान के प्रतीक हैं। रेशमी वस्त्र पवित्रता के सूचक हैं, जबकि फूल और धूपबत्ती आध्यात्मिक सुगन्ध के प्रतीक हैं। पौराणिक गाथाएँ अनेक कहानियों के रूप में मनुष्य और अलौकिक शक्ति के संबंध को स्पष्ट करती हैं।

**5. उद्वेगपूर्ण अभिव्यक्त -**धर्म से संबंधित विश्वासों को लोग अनेक उद्वेगपूर्ण व्यवहारों के रूप में अभिव्यक्त करते हैं। भाव-विºवल होकर प्रार्थना और नृत्य करना, शारीरिक कष्ट के साथ अलौकिक शक्ति में अपनी श्रद्धा दिखाना, किसी धार्मिक त्रुटि के लिए बड़े-बड़े प्रायश्चित करना तथा अलौकिक शक्ति के प्रति भय की भावना को विकसित करना उद्वेगपूर्ण अभिव्यक्ति के ही उदाहरण हैं। ऐसे व्यवहारों का बुद्धि और तर्क से कोई संबंध नहीं होता।

**धार्मिक क्रियाएँ**

विभिन्न धर्मों के मौलिक सिद्धान्तों के अध्ययन से यह पता चलता है कि इनमें से हर धर्म में अलौकिक, सर्वशक्तिमान शक्ति पर विश्वास निहित होता है। साथ ही इसी शक्ति को प्रसन्न करके लाभ उठाने तथा उसके कोप से बचने के लिए विभिन्न साधनों का विधान होता है। इन्हीं साधनों को धार्मिक क्रियाओं की संज्ञा दी जा सकती है। ये धार्मिक क्रियाएँ मुख्यत: हैं-

**1. प्रार्थना –**

धार्मिक क्रिया के रूप में प्रार्थना का स्थान लगभग प्रत्येक धर्म में ही सदा से महत्वपूर्ण रहा है। सभ्यता के उच्च स्तर पर प्रार्थना धार्मिक क्रिया का प्रधान अंग बन जाती है। प्रार्थना अलौकिक शक्ति को प्रसन्न करके उसकी कृपा-दृष्टि प्राप्त करने, उसके कोपों से बचने, अपराधों के लिए क्षमा-भिक्षा चाहने तथा भौतिक सुख, समृद्धि या सफलता को प्राप्त करने के लिए की जाती है।

**2. समाधि –**

ध्यानमग्न होकर उस अलौकिक शक्ति का चिन्तन करना, प्राणायाम करना, समाधि लगाना, योग साधना इत्यादि क्रियाएँ इस श्रेणी में आती हैं। इन क्रियाओं का मुख्य उद्देश्य अलौकिक शक्ति का दर्शन पाना और उस अनादि शक्ति में ही लीन होने का प्रयत्न करना आदि होता है। भारत का धार्मिक इतिहास इस प्रकार की क्रियाओं के उदाहरणों से भरपूर है। अक्सर यह देखा जाता है कि मन्दिरों, मस्जिदों या गिरजाघरों आदि में अनेक व्यक्ति एकत्रित होकर सामूहिक रूप से पूजा-पाठ, कीर्तन, प्रार्थना, आराधना आदि करते हैं। बहुत दिनों तब जब एक सामूहिक धार्मिक क्रिया को बार-बार दोहराया जाता है तो वह एक धर्म विशेष का अंग बन जाती है। इसलिए हम यह पाते हैं कि इस्लाम धर्म को मानने वाले एकसाथ इकट्ठे होकर नमाज़ पढ़ते हैं तथा ईसाई लोग चर्च में सामूहिक प्रार्थना में सम्मिलित होते हैं।

**3. सामूहिक क्रियाएं -**  
प्रत्येक धर्म में उचित और अनुचित आचरण के संबंध में निश्चित निर्देशन तथा मापदण्ड होते हैं। प्राय: प्रत्येक धर्म उन क्रियाओं को अनुचित ठहराता है जो समाज तथा ईश्वर के विरुद्ध होती हैं। कोई भी धर्म चोरी करने, झूठ बोलने, लालच करने, नास्तिक बनने आदि को पुण्य कार्यों के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं करता; सदाचार, ईमानदारी, निष्कपट आचरण आदि पर अत्यधिक बल देता है, और कुछ ऐसे आचरण अनुकरणीय मानता है जिनके पालन की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता है। दूसरी ओर, कुछ ऐसे निषिद्ध कार्य भी होते हैं जिनके करने पर धर्म में दण्ड तक का विधान होता है।

**4. बलि –**

धर्म के इतिहास से अनेक प्रकार की बलियों के विषय में भी पता चलता है। इन बलियों को प्रमुख रूप से दो श्रेणियों में रखा जा सकता है- सम्मानात्मक बलि तथा पापनाशात्मक बलि। जब अलौकिक शक्ति को प्रसन्न करने के लिए उसके सम्मान में कोई वस्तु भेंट की जाती है तो उसे ‘सम्मानात्मक बलि’ कहते हैं। प्रसाद चढ़ाना, भोग लगाना, अन्न-वस्त्र आदि भेंट करना ‘सम्मानात्मक’ बलि के अन्तर्गत आता है। इसके विपरीत जब अपने किसी पाप का प्रायश्चित करने या अलौकिक शक्ति के रोष को शान्त करने के लिए किसी पशु, पक्षी अथवा प्राणी की बलि दी जाती है, तो उसे ‘पापनाशात्मक बलि’ कहते हैं। इस संबंध में यह स्मरणीय है कि इस प्रकार की बलि चढ़ाने की प्रथा सभ्यता के विकास के साथ-साथ कम होती जा रही है।  
**5. तान्त्रिक क्रियाएं –**

तान्त्रिक क्रियाओं द्वारा मनुष्य को कष्ट देने वाले या उसका अनिष्ट करने वाले देवी-देवताओं तथा प्रेतों को वश में करने का प्रयत्न किया जाता है। प्राचीन काल में इन क्रियाओं का काफी प्रचलन था। इनमें जादू-टोनों और टोटकों को सम्मिलित किया जाता है। मन्त्रों द्वारा बीमारी ठीक करना, पानी बरसना तथा शत्रु को नुकसान पहुँचाना, और तावीज़ या तान्त्रिक अंगूठी द्वारा सन्तान दिला देना आदि तान्त्रिक क्रियाओं की ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं।

**धर्म की उत्पत्ति  के सिद्धांत**

मानव-समाज में धर्म की उत्पत्ति कैसे हुई, इस संबंध में विद्वानों के अपने पृथक्-पृथक् विचार हैं। विकासवादी लेखकों के अनुसार आधुनिक सभ्य समाज जनजातीय या आदिकालीन समाजों का ही क्रमिक विकसित रूप है, इस कारण धर्म की उत्पत्ति भी सर्वप्रथम जनजातीय समाजों में हुई होगी। अत: अनेक विद्वान जनजातियों के जीवन का विश्लेषण करके धर्म की उत्पत्ति और उसके प्रारम्भिक रूप को खोजने का प्रयत्न करते हैं। धर्म की उत्पत्ति के  कुछ सिद्धांत इस तथ्य को और भी स्पष्ट कर देंगे-

**1. धर्म की उत्पत्ति के टायलर का आत्मवाद –**

टायलर के अनुसार, ‘‘आत्मा की धारणा ही आदिम मनुष्यों से लेकर सभ्य मनुष्यों तक के धर्म के दर्शन का आधार है।’’ यह आत्मावाद दो वृहत् विश्वासों में विभाजित है- प्रथम तो यह है कि मनुष्य की आत्मा का अस्तित्व मृत्यु या शरीर के नष्ट होने के पश्चात् भी बना रहता है और द्वितीय यह है कि मनुष्यों की आत्माओं के अतिरिक्त शक्तिशाली देवताओं की अन्य आत्माएँ भी होती हैं। टायलर के अनुसार आत्माएँ प्रेतात्माओं से लेकर शक्तिशाली देवताओं की श्रेणी तक की होती हैं। ये पारलौकिक आत्माएँ केवल अमर ही नहीं हैं, वरन् वे इस भौतिक संसार की सभी घटनाओं तथा मनुष्यों के जीवन की दिशा को भी नियन्त्रित व निर्देशित करती हैं। इसके अतिरिक्त, इन आत्माओं को प्रसन्न रखने से मनुष्य को लाभ और इसके अप्रसन्न होने पर हानि हो सकती है। इसीलिए इनकी विनती या आराधना करना आवश्यक है, जिससे वे हमारा अनिष्ट न करें। इसी विश्वास को लेकर आदिम मनुष्यों ने पितरों आदि की विनती और आराधना प्रारम्भ की, और यही आगे चलकर धर्म के रूप में विकसित हुई।

**2. धर्म की उत्पत्ति के मैक्स मूलर का प्रकृतिवाद –**

मैक्स मूलर के अनुसार प्रकृति के विभिन्न रूपों को देखकर आदिकाल में मानव के मन में भय, आतंक, आश्चर्य आदि होना स्वाभाविक ही था। इन मानसिक भावनाओं के कारण वह प्रकृति से ऐसे डरने लगा, जैसे किसी प्राणी से डरता हो और इसीलिए उसके प्रति उनके दिल में श्रद्धा, भक्ति आदि की भावनाएँ आर्इं। इसी के आधार पर संस्कृति और भाषाशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् मैक्स मूलर ने यह निष्कर्ष निकाला कि धर्म की उत्पत्ति का प्रथम चरण प्रकृति के विभिन्न पदार्थों जैसे सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु आदि की आराधना थी। मिस्र में तथा अन्यत्र हुई खुदाइयों से इस विचार को पुष्टि मिली। मिस्र में सबसे बड़ा देवता ‘रा’ अर्थात् सूर्य था। यह कहा जाता है कि प्रकृति के विभिन्न पदार्थों को सजीव समझना और उनके प्रति श्रद्धा, प्रेम या भय की भावना का जन्म दोषपूर्ण भाषा के कारण हुआ। प्राय: यह कहा जाता है कि सूर्य उदय या अस्त होता है’, ‘आँधी चल रही है’, इत्यादि। परन्तु वास्तव में सूर्य न तो उदय ही होता है और न अस्त ही होता है। कुछ भी हो, आदि मानव प्रकृति की इस विशालता के सम्मुख नतमस्तक होता है और धर्म की प्रथम नींव पड़ती है।

**3. धर्म की उत्पत्ति के फ्रेज़र का सिद्धांत –**

फ्रेज़र के मतानुसार सर्वप्रथम आदिम मनुष्यों ने जादू-टोने (magic) के द्वारा प्रकृति पर नियन्त्रण करके अपने उद्देश्यों की पूर्ति करने का प्रयत्न किया और असफल होने पर यह मान लिया कि ‘संसार’ में उनसे भी कोई अधिक शक्तिशाली है जो उनके प्रयत्नों को व्यर्थ करता है और इस कारण उस शक्ति पर जादू-टोने के द्वारा शासन करना कदापि सम्भव नहीं। इस धारणा के फलस्वरूप ही वह  उस शक्ति पर शासन करने की इच्छा त्यागकर उसकी आराधना करने लगा और इसी से धर्म की उत्पत्ति हुई। संक्षेप में, फ्रेज़र के अनुसार धर्म की प्राथमिक अवस्था (initial primacy) जादू-टोना था। जादू-टोने से निराश होकर ही लोगों ने धर्म की शरण ली थी। इस प्रकार धर्म प्रकृति के द्वारा पराजित मनोवृत्ति का ही परिणाम है।

**4. धर्म की उत्पत्ति के दुर्खीम का सिद्धांत -**

दुर्खीम ने अनेक विद्वानों की कमियों का उल्लेख करते हुए धर्म की उत्पत्ति के संबंध में एक सम्पूर्ण सामाजिक व्याख्या को प्रस्तुत किया। आपके अनुसार ‘समाज’ ही धर्म की उत्पत्ति का मूल कारण है। धर्म ‘समाज’ की ही प्रतिछाया है।

दुर्खीम के मतानुसार सामूहिक जीवन की समस्त वस्तुओं को, चाहे वे सरल हों या जटिल, वास्तविक हों या आदर्शत्मक, दो प्रमुख भागों में बाँटा जा सकता है- (1) साधारण, (2) पवित्र। समस्त धर्म का संबंध पवित्र वस्तुओं से होता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी पवित्र वस्तुएँ ईश्वरीय या धर्म से संबंधित होती हैं, यद्यपि धर्म-संबंधी प्रत्येक वस्तु या विचार पवित्र अवश्य ही होते हैं। ये पवित्र वस्तुएँ समाज की प्रतीक या सामुदायिक प्रतिनिधि हैं। आदिम समाजों में व्यक्ति सामूहिक शक्ति के सम्मुख अपनी शक्ति को सर्वथा अर्थहीन पाता है और इसीलिए उसके सम्मुख नतमस्तक होता है। यह सामूहिक शक्ति सार्वजनिक संस्कारों तथा उत्सव आदि के समय अनुभव की जाती है। इस सामूहिक शक्ति को आदिम मानव पवित्र मानता है और इसी कारण उससे प्रभावित रहता है। समाज के लोग जिन्हें पवित्र समझते हैं उन्हें अपवित्र और साधारण से सदा दूर बचाकर रखने का प्रयत्न करते हैं और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे अनेक विश्वासों, आचरणों, संस्कारों और उत्सवों को जन्म देते हैं। धर्म इन्हीं प्रयत्नों का फल है। चूँकि इन प्रयत्नों से संबंधित विश्वासों, आचरणों संस्कारों आदि के पीछे समस्त समाज की अभिमति और दबाव होता है इस कारण समाज की उस सामूहिक सत्ता के समक्ष मनुष्य को नतमस्तक होना पड़ता है। धर्म की नींव वहीं से पड़ती है। यदि सूक्ष्म रूप से विश्लेषण किया जाए तो स्पष्ट होगा कि धर्म की उत्पत्ति किसी एक विशेष कारण से नहीं हुई, इसकी उत्पत्ति में तो एकाधिक कारणों का योगदान रहा है।

1. **पवित्रता की भावना-** दुर्खीम ने इस तथ्य पर विशेष बल दिया कि धर्म का संबंध उन सभी विश्वासों, वस्तुओं और आचरणों से होता है जिन्हें पवित्र माना जाता है। यही कारण है कि धर्म से संबंधित सभी वस्तुओं और क्रियाओं को अपवित्र वस्तुओं और अपवित्र आचरणों से अलग रखा जाता है। पवित्रता की यही धारणा उन सभी व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बाँधती है जो समान धार्मिक विश्वासों में आस्था रखते हैं।
2. **तर्क का अभाव-** धर्म का संबंध अलौकिक विश्वासों से होने के कारण इन्हें किसी परीक्षण अथवा वैज्ञानिक ज्ञान के द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता। विश्वास ही धर्म की नींव है। यही कारण है कि धर्म का संबंध मानव जीवन के तार्किक पक्ष से न होकर भावनात्मक पक्ष से होता है।
3. **नियमों व निषेधो का समावेश-**प्रत्येक धर्म में व्यवहार के कुछ विशेष नियमों का समावेश होता है। यह नियम पवित्रता, ईमानदारी, दया, न्याय, त्याग तथा सत्यता से संबंधित होते हैं। धार्मिक नियम यह स्पष्ट करते हैं कि विभिन्न दशाओं में व्यक्ति को किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए। निषेध का तात्पर्य उन नियमों से है जो व्यक्ति को छल, कपट, अनैतिकता, बेईमानी और दुराचरण से रोकते हैं। व्यक्तियों के व्यवहारों को नियन्त्रित करने में इन नियमों और निषेधों की एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है।
4. **धार्मिक संस्तरण-** संसार के सभी धर्मों में विभिन्न व्यक्तियों के बीच उच्चता और निम्नता का एक स्पष्ट संस्तरण होता है। इस संस्तरण में उन व्यक्तियों को सर्वोच्च स्थान मिलता है जिन्हें अपने धर्म का विशेष ज्ञान होता है। धर्माचार्य, पोप, इमाम तथा ओझा आदि इसी श्रेणी के व्यक्ति हैं। इन धार्मिक प्रतिनिधियों के समीप रहने वाले व्यक्तियों का धार्मिक संस्तरण में दूसरा स्थान होता है। धार्मिक नियमों के अनुसार संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले लोगों को तीसरा स्थान मिलता है। इस संस्तरण में वे व्यक्ति सबसे नीचे होते हैं जिन्हें या तो पवित्र नहीं समझा जाता अथवा जिनका धर्म में कोई विश्वास नहीं होता।

धर्म की उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर (Anderson) ने यह निष्कर्ष दिया है कि ‘‘धर्म एक नैतिक-आध्यात्मिक संस्था अनेक विचारों, विश्वासों और उद्वेगों की एक संयुक्तता है जिसे किसी अलौकिक शक्ति के प्रति अभिव्यक्त किया जाता है।’’

**मानव जीवन में धर्म का महत्व**

1933 में महात्मा गाँधी ने मानव जीवन में धर्म को एक महान शक्ति बताया है और कहा-’’धर्म वह शक्ति है जो व्यक्ति का बड़े-बड़े संकट में ईमानदार बनाये रखती है और यह इस संसार में दूसरे में भी व्यक्ति की आशा का अन्तिम सहारा है।’’ मानव जीवन में धर्म के निम्न कार्य बताये जा सकते है-

1. धर्म व्यक्ति का व्यक्तित्व एवं अस्तित्व को सुनिश्चित करता है।
2. धर्म जीवन को आधार प्रदान करता है।
3. यह मानव मस्तिष्क को शान्ति देता है और हृदय में आशा का संचार करता है।
4. धर्म मानव जीवन कों मानसिक दृढता प्रदान कर नैतिक रखता है।
5. यह मानव समूह को व्यवहारात्मक, विचारात्मक, परम्परात्मक एवं भावात्मक रूप से जोडें रहता है।
6. धर्म मनुष्य को संस्कृति एवं सभ्यता के निर्माण एवं निर्वाह का आधार प्रदान करता है।
7. यह व्यक्ति को परिवार, समाज एवं देश से जोडता रहता है।
8. धर्म ने मानव जीवन के सम्पूर्ण इतिहास को नया रूप देकर संजोया।
9. धर्म मनुष्य को अध्यात्मिकता एव नैतिकता का मार्ग दिखाता है।
10. धर्म मनुष्य को वास्तविक जीवन की परिस्थितियों से संधर्ष करने की शक्ति का संचार करता है।
11. जीवन के अन्तिम सत्य (मोक्ष) को प्राप्त करने हेतु प्रथम सीढी़ धर्म का ही है।
12. धर्म व्यक्ति की भैातिक एंव आध्यात्मिक उन्नति को आधार प्रदान करता है। कहा भी गया है- यतो अभ्युदय-निश्श्रेयस सिद्धि: स धर्म:। (जिससे व्यक्ति की शारीरिक और आध्यात्मिक उन्नति हो वही धर्म है)
13. मानव के सम्पूर्ण इतिहास पर धर्म की छाप है इसकी पुष्टि करते हुये गिस्र्बट ने लिखा है-’’अमरीकी और फ्रान्सीसी क्रांन्तियों पर धर्म की छाप थी और 09 जनवरी 1905 तक रूसी क्रान्तियों पर भी प्रबल धर्मिक प्रभाव था। आधुनिक समय में महात्मागाँधी और आचार्य विनोबा भावे के नेतृत्व में होने वाले महान सामाजिक और आथिक आन्दोलनो का आधर धर्म है।’’

हम संक्षेप में कह सकते है की धर्म एक सर्व व्यापक शक्ति है जो व्यक्ति और समाज को अनेक प्रकार से प्रभावित करती है।

|  |  |
| --- | --- |
|  |  |